UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182972
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—68—11-1-68—2,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 D45B Accession No. H3604

Author देशपांडे, आत्माराम रावजी 'अनिल'

Title भग्नमूर्ति. अनु. प्रभाकर माचवे. 1958.

This book should be returned on or before the date last marked below.

भग्नमूर्ति

अकादेमी के अन्य हिन्दी प्रकाशन

(मूल भाषाओं का नाम कोष्ठक में अंकित है)

१. भारतीय कविता : १९५३	(भारत की १४ भाषाओं की कविताओं का लिप्यन्तर और अनुवाद)	५.००
२ केरल सिंह (मलयालम)	का० मा० पणिक्कर	३.००
३. भगवान् बुद्ध (मराठी)	धर्मानन्द कोसम्बी	५.००
४. मिट्टी का पुतला (उड़िया)	कालिन्दीचरण पाणिग्राही	२.००
५. कांदीद (फ्रेन्च)	वाल्तेयर	२ ००
६. दो सेर धान (मलयालम)	तकषी शिवशंकर पिल्लै	२.००
७. गेंजी की कहानी (जापानी)	मुरासाकी शिकाबू	४.५०
८. आरण्यक (बंगला)	विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय	४.००
९. आरोग्य निकेतन (बंगला)	ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	६.००
१०. अमृत सन्तान (उड़िया)	गोपीनाथ महान्ती	१२.००
११. आदमखोर (पंजाबी)	नानक सिंह	५.००
१२. वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी)	लक्ष्मण शास्त्री जोशी	५.००
१३. क्या यही सभ्यता है ? (बंगला)	माइकेल मधुसूदन दत्त	१.५०
१४. नारायण राव (तेलुगु)	अडवि बापिराजू	६.००
१५. आज का भारतीय साहित्य	(भारत की १६ भाषाओं के साहित्य का परिचय)	७.००
१६. जीवी (गुजराती)	पन्नालाल पटेल	४.५०

भग्नमूर्ति

मूल मराठी कवि
आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल'

अनुवादक
डॉ० प्रभाकर माचवे

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

प्रथम हिन्दी संस्करण, १६५८

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित

© साहित्य अकादेमी, १६५८

श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा
नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

प्रमुख वितरक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली

मूल्य एक रुपया

भग्न मूर्ति—!
मन्दिर भी भग्न यहीं सम्मुख है,
केवल पाषाण-स्तम्भ चार बचे
खड़े हुए
गत वैभव के साक्षी !!

उच्च स्वर्ण-कलश नहीं,
गोपुर प्राकार भव्य—कुछ न रहे !
गिर गये, गिराये, उध्वस्त हुए
काल के प्रवाह में कि बह गये
चिह्न भी बचा नहीं ।

चार स्तम्भ आज यह दिखाई दे रहे हैं जो
पड़े थे वे इधर-उधर,
प्रयत्न से, समेटकर,
जीर्ण खोज करके अवशेष वही
जुटा दिए जैसे थे वैसे ही
रखे सँभालकर, देकर
किसी तरह छत ऊपर !

अब आओ पास ज़रा,
देखो तो सूक्ष्मतया,
एक-एक यह है पाषाण-स्तम्भ,
स्मारक-सा आपकी कला का ही
—स्मारक ? कैसे कह दूँ ?
देखकर अनास्था यह
उचित तिलमिलाकर होगा कहना—
आपकी कला की यह
समाधि ही सजीव है !

शिल्पित इस पत्थर पर
चढ़ा हुआ खार अरे
घिरा है सिवार भी।
और यहाँ सज्जन जो आये थे
सैर या कि दर्शन को
वन-भोजन, यात्रा को,
गए छोड़ उस पर ही
नाम निज,
वाह, धन्य !
दुनिया में नाम रहेंगे निश्चित
ये नृशंस और कला-ध्वंसक के।

उपद्रवी लोग वहाँ
छील-छील साथ लिये आते हैं कोने औ'
कहते हैं लाल-लाल पत्थर यह
बड़ा काम आता है,
चूरे से माँजो तो

चाँदी को, सोने को चमकाता।
अरे, तुम्हीं कहलाते हो
क्या उस संस्कृति के
भव्य कला-सम्पद के
वारिस हक़दार यहाँ ?
जिसके हैं भग्न और खण्डित अवशेष यही ?
शिल्पी वह लुप्त-नाम, अविज्ञात
क्या पूर्वज तुम्हारा नहीं था वह,
जिसने निज जादू के हाथों से
पत्थर पर खुरदरे कुरेदकर निकाल दीं
यह सुरम्य आकृतियाँ ?

स्तम्भों पर कमल-बन्ध
कितने ये कौशल से अंकित हैं
एक-एक मृदु दल से
खिल उठा सहस्र-दल !
गुँथी हुईं पंखुड़ियाँ खोदी हैं चहुँ ओर,

कोमल कमनीय कमल कल्पना-विकास यहाँ,
भिन्न-भिन्न आकृति में
चित्रांकन रम्य किया
पत्थर को शीशम या हाथीदाँत मानकर ।
नाम तक नहीं छोड़ा
अनामिक, अविज्ञात शिल्पी ने अपना, पर
मूर्ति खड़ी हो जाती है मन में ।

उसने अति कष्ट सहे,
यहीं कहीं वृक्ष तले
पत्थर के गढ़ने में मग्न रहा,
पूर्ण रूप को मन में कल्पित कर,
धीमे से धीमे से आकार दिया होगा
छेनी के हल्के से टाँके दे आखिर में ।
इसी भाँति पूरी की, रम्य कला-कृति उसने
खटा रहा होगा वह कई मास ।

मन्दिर निर्माण किया जो उसने
उसका यह केवल लघु भाग-मात्र,
और चौंतरे पर भी
खुदी हुई थीं कितनी आकृतियाँ—
किन्नर, गन्धर्व, ह्रस्व-बाहुक की—
मूर्ति-मूर्ति की झालर बाँधी थी।
रम्य स्थान पर ऐसे
कलापूर्ण शिल्प के विधान किये,
मन्दिर की निर्मिति की,
स्थापित की भीतर अति रम्य मूर्ति
जैसे वह सीमा हो
परम कला की उसकी !

हाय ! वही मूर्ति यहाँ
छिन्न-भिन्न, भग्न-प्राय,
खुली धूप-पावस में
खड़ी हुई, निस्सहाय।

आपकी अनास्था से और हुई खण्डित-सी !!
रात-दिवस लगातार श्रम से,
जिस अविज्ञात कलाकार जन ने इस
संस्कृति को उज्ज्वल यह
पहनाया गहना था मूल्यवान,
भस्म-अस्थि अगर कहीं हो उनकी,
कण केवल बची हुई अम्बालय के जल में,
सिहरीं उद्वेग-भरी वे होंगी
जिस दिन विध्वंस कला-कृतियों का
यहाँ कभी हुआ होगा !!

संस्कृति का दान था अमोल यही,
सौंपा था सँभालकर रखने को,
आगामी पीढ़ी को,
लौटाना ऋण-समान दान वही उचित था न,
स्फूर्ति ले उन्हीं से ? पर,
दुर्भाग्य, कि कुछ न हुआ।

पुरखे तो रक्षा नहीं कर पाये ।
उच्छेदन उनके ही समय हुआ ।
अब तो क्या ?
दीवाला निकल चुका है अपना
उस ऋण को चुका सकें, बात कहाँ ?
अपमानित अब न करो,
बस इतनी ही इच्छा है उनकी,
अविज्ञात-नाम कलाकारों की ।

भाग्य-सूर्य अस्त हुआ कब से ही
पश्चिम के सागर में डुबो लिया अपने को,
किन्तु जो कि छिटके थे
तेजोमय कण जल के,
तारे वे बिखरे-से,
ऊपर नभ-मण्डल में
आज भी प्रकाशित हैं ।
वही तेज संचित है किंचित्-सा उनमें जो

भारत की छाती पर फैले भग्नावशेष ।
करो सुरक्षा उनकी,
उनकी ही धुँधली-सी आभा में सोचो अब,
क्योंकि अभी शेष काल
उषःकाल होने में ।

और आज इसी रामगिरि तट पर
सूरज है डूब रहा ।
अहे सूर्यनारायण ।
सकल-दृष्टि-लोचन हे, वीक्षण हे विश्वों के !
निश्चय ही अथ से ही
देखा होगा तुमने
विश्व का विकास पूर्ण ?
देखे होंगे तुमने
आस-पास सिंदुर गिरि-मण्डल के
वाकाटक राज्य पूर्ण वैभव में,
भव्य वास्तु-शिल्प यहाँ अंश-मात्र जिस युग का ।

ओ तेजोभास्कर हे !
अस्ताचलगामी कर-स्पर्शन कर
एक क्षण, केवल क्षण
वरद हस्त मस्तक पर
क्या रख दोगे मेरे ?
वैभव का परम बिन्दु
दिखलाओ ना फिर से
दिव्य दृष्टि दे करके
मूँद लिये लोचन अब, लो मैंने
बैठा हूँ मन विषण्ण, ध्यान-मग्न,
चित्रों को कल्पित कर एकत्रित ।

खोले जब नयन पुनः
बस दिखाई देता है सोना-ही-सोना अब,
शिखर हुए सोने के सारे ही
उसी 'राम मन्दिर' के, 'भोंसले महाल' के,
बारहदुआरी के छतरी का गुम्बद भी ।

मानो सब रामगिरि बदल बना हेमाद्रि,
जगमग हैं चहुँ ओर स्वर्णिल कण,
साँझ है उँडेलती सुवर्ण रंग।
भीग रहा है सब-कुछ उसमें ही,
सोने का मुलम्मा चढ़ा जैसे।

और भग्न मन्दिर की यह छत भी,
छाई है सूखी-सी पीली-सी घास जहाँ,
वह भी लो दमक उठी पीली-सी आभा में !
चमक पूर्व-वैभव की मानो यह
अस्ताचलगामी रवि दिखलाता जाता है !

भग्न मूर्ति पर देखो,
कीमिया हुई अद्भुत,
फैलने लगा उस पर
संध्या के रंगों का तेज-जाल
देखने लगे मन के लोचन अब

पूर्ण रूप उसका कौशल्य सूक्ष्म !
छिन्न हुए मुख पर विलसने लगा
चिर शान्तिप्रद सुहास्य मन्द गूढ़
अभय चराचर को करता प्रदान ।

देखो ! यह वामन की मूर्ति स्वयं
पंचम अवतार विष्णु
एक ही अखंड रक्त-प्रस्तर में,
नौताला पूर्णाकृति ।
नख-शिख तक ढली हुई
रौद्र-रस-साँचे में ।
पत्थर में लिखा हुआ
वीर-काव्य ओजस्वी !
'स्थान-मान' देखो तो कैसा यह
मंडित अतिभंग ठाठ
और खड़े रहने का,
धीर, निडर, निस्संशय !

गठित, सप्रमाण अंग
जैसे हों वज्रदेह योद्धा के,
भरे हुए, रेखित-से,
जाँघों पर उरूमाल झूल रही,
कटि पर है बँधी मुञ्ज-मेखला व
चौड़ा-सा वक्ष जैसे किसी सिंह का।
विशाल स्कन्ध
अष्ट भुजाओं के जो उद्गम हैं पराक्रमी,
अष्टदिशा शाखाएँ फैली ज्यों
वृक्ष-तने से प्रचण्ड !
ऊपर को दक्षिण-पद उठा दिया,
भारयुक्त स्थापा बलिराज शीर्ष के ऊपर
उसे धँसा पाताल में।
दानशूर महाबली बलिराजा
शीश पर प्रचण्ड भार लिये झुका जाता है;
मुद्रा तो फिर भी है,
धीर, अचल, निर्विकार।

ग्रौर सत्त्व-पालन का
ग्रानन पर ग्रटल, शान्त ग्रानन्द विलसित है
उत्तमांग ग्रौर प्रभा-मण्डल
मुख-छवि देखो वामन की !
कितनी प्रभविष्णु ग्रौर ग्रद्भुत है
मिश्रण विक्रान्त ग्रौर शान्त भाव
भाल देश है विशाल.
ग्राकृष्ट भौंहें,
नासापुट स्फुरित, कम्पमान ग्रोष्ठ,
यह ऐसा दर्शन त्रैलोक्यव्यापी
वीर महाविक्रम त्रिविक्रम का,
इस ग्रद्भुत-वामन का।

यदि थोड़े मूर्ति-कला-ज्ञानी हो,
कला की कुशलता के जानकार,
छिन्न-भिन्न मूर्ति में भी
रेखा की संगति को देखकर

आँखें भर आयेंगी।
एक-एक रेखा यह देखो तो
वादी औ' संवादी, स्थायी औ' आरोही,
अवरोही स्वर-विलास
मानो है या कि तान द्रुत-लय में,
रुद्र-ताल में भैरव अलापती !!

देवों के देव अहे !
खण्डित इस मूरत में
अब भगवान का कहाँ अधिष्ठान है
भाविक भक्तों को ?
वे भगे पुजारी जो पेटार्थी बेचारे
चले गए सब स्वार्थी भगत लोग
मनाते मनौतियाँ जो
आज एक नास्तिक—मैं
अपने मनोभावों की,
हिल्लोलित प्राणों की,

चढ़ा रहा पूजा हूँ।
कला में जो अमर प्राण
मानवता का विकास,
उसको भगवान् मानता हूँ मैं,
मानता हूँ अधिष्ठान जनता-जनार्दन का
और भाव-पूजा में मेरी
यह प्रकृति भी संगत-सी करती है।
देव ! साँझ-आरती
रवि स्वयं उतारता
सान्ध्य-तेज नीराजन निज कर से,
मन्दानिल चँवर तुम्हारे सिर पर करता है
नव कोपल किसलय तरु-शाखा के,
न्यौछावर चरणों पर
वासंतिक गन्धमत्त नया बौर
पीत शुष्क पर्णों की वन-मर्मर,
गाती हैं आरतियाँ
हृदयों में नाद अनाहत मृदंग

—पूजा है अब समाप्त !
शान्त स्तब्ध दिग्दिगन्त !
धीरे तम घिरता है
मन में उद्वेग और दुखदायी स्मृतियों के
जगा रहा चिमगादड़
वास्तव की प्रखर प्रभा में गहरे,
टँगे हुए उलटे जो सोये थे,
पंख फड़फड़ाकर वे
उड़ने अब लगे कल्पना-नभ में !

हा ! मेरी मातृभूमि
जिसमें है दीख रहा
जहाँ कहीं जाय वहाँ
उच्छेदन शिल्प-कला-कृतियों का
भग्न कई मन्दिर औ'
भग्न कई प्रतिमाएँ !
जितनी निर्मिति विपुला

ध्वंस-क्रिया उतनी ही बहुला है,
है अशक्य निर्देशन या गणना !

चैत्य अजन्ता के वे
अनुपम-से भित्ति-चित्र भरे हुए वे विहार,
भग्न है समाधि वहाँ बुद्ध की,
उड़ गए पपोटे भी चित्रों के,
ध्वंस किया ऐसा जिन लोगों ने
क्या जानी हानि विश्व की कितनी !
प्रियतम के हाथ गले में होते
प्रिया वहाँ उसकी है
एक नैन दिखलाती
कोमल विश्वस्त भाव,
करती है सैन
भरा है विनाश दूजे में !

मन्दिर कैलास नाम एलोरा पर्वत में

वास्तु-शिल्प का मानो यथानाम शृङ्ग-शिखर
नभ से अवतीर्ण पूर्ण जैसा हो !
मूर्तिभंग-मत्त वहाँ
विध्वंसक हस्तों ने सीमा की,
तोड़-फोड़ आग लगा,
शुण्डाएँ टूटी गजराजों की
एक-एक मूर्ति बनी
आँख-मिटी, नाक-कटी !

'भाजें' और 'कार्ले' के
अति सुन्दर चैत्यों की
ऐसी ही दुर्गति है ।

धारापुर गुफा में—
प्रस्तर में खुदी हुई मूर्तियाँ अनेक भव्य
शिव-तांडव,
पार्वती विवाह,

देव देवता
अन्तर को भेदता विनाश वहाँ !
प्रलयंकर शिवजी के
हस्त और चरणों का
तांडव में विलय हुआ;
टूट गए पाणि
पाणिग्रहण-समय !

उत्तर-वायव्य भाग में तो क्या
विध्वंसक हस्तों से
संस्कृति का नाश हुआ कई बार
एक भी अभंग
कला-कृति वहाँ न बच पाई !

ध्वस्त हुए तोरण वे
साँची के स्तूपों के जग-प्रसिद्ध !
और निकट जा देखो

देवों के प्रिय का प्रियदर्शी का
धर्मपाल महाचक्रवर्ती का
अशोक का
सिंह-स्तम्भ उन्मूलित !
उसके भी तीन हो गए टुकड़े !!

नगरों में अब स्थापित
संग्रहालयों पर जो
डालोगे एक दृष्टि
उनके दालान भव्य
ठूँसकर भरे हुए हैं मूर्तियों से छिन्न-भिन्न !

मथुरा के आर्ष संग्रहालय में जाने पर
महा द्वार पर ही है
भव्य मूर्ति कुशानों के सम्राट् कनिष्क की
खुदी हुई ब्राह्मी लिपि में विरुदावलि जिस पर
'महाराजा राजातिराजा देवपुत्रो कानिष्को'

केवल है धड़ बाकी !
शिरच्छेद हुआ किसी
दुष्ट ध्वंसकर्ता के हाथों से !

और हमारे पावन तीर्थों में ?
स्मरण-मात्र
काशी का काफी है !

वहीं सारनाथ पास
बुद्धदेव ने जहाँ कि
धर्मचक्र-परिचालन
पहला उपदेश दिया,
वहाँ कला-हिंसा अब
हँसती है तत्त्व-अहिंसा पर ही !
देखते तथागत हैं मुँदे हुए लोचन से
अनपेक्षित विधि-लेखा विपरीता !!

कितनी थीं ये विशाल

भव्य कला-कृतियाँ औ'
कितनी थी वह महान्
निर्मात्री संस्कृति जो
उनका आधार रही
उनका चैतन्य प्राण
ध्वस्त हुई पड़ी यहाँ !

जन्म कला को देती है संस्कृति
संस्कृति का ही विलास चैतन्य कि
कला तथा विद्या हैं
बौर ज्यों कि वृक्षों पर !
उन असंख्य फूलों में
भरे हुए सूक्ष्म बीज
जिनमें से नवनिर्मिति
संस्कृति की आगामी

इसी हेतु
कला और विद्या का संस्कृति ही

करती पोषण, रक्षण
इनके ही होने से
पहचानी जाती है संस्कृति औ'
संस्कृति-अस्तित्व वहीं

और कला यह अपनी
सर्व अनामिक देखो !
नहीं ज्ञात या विशिष्ट
किसी एक कलाकार शिल्पी को;
नहीं कहीं खुदा हुआ
नाम किसी शिल्पी का,
जिसकी थी वह निर्मिति

इतना था जनता का
जनता के जीवन से ऐसा वह समरस था,
और कला-कृति में अब उसके है
सारी जनता जीती,
जनता की भावना व जनता की ही संस्कृति !

कविकुलगुरु पुण्यस्मरण कालिदास,
जिसने कुछ काल किया
'जनक-तनया-स्नान-पुण्योदक'
रामगिरि पर निवास,
उसने भी छोड़ा क्या दुनिया में ?
नाम-मात्र कालिदास !
उसका भी व्यक्तिमत्त्व लुप्त हुआ,
समा गया समष्टि में !
किन्तु चिरन्तन उसके काव्यों में
बीती वह संस्कृति है जीती रहती आती !

आज रामगिरि पर अब
कुटज फूट उठता है असाढ़ में,
फूल मेघ को जिसके
यक्ष ने किये अर्पित ।
देखा था कालिदास ने जिनको
नभ खिलता उन्हीं तारिकाओं से,

वही गंध-मत्त वायु बहती है मन्द-मन्द ।
वैसा ही है निसर्ग सतत रहा
जब हुई कला निर्मिति ।
वैसा ही था निसर्ग
जब कि हुआ ध्वंस कला-कृतियों का !

संस्कृति का ह्रास मूल कारण है
सर्वनाश का देखो !

कितना था विभव यहाँ
इसी रामगिरि पर थे
वाकाटक नृप यात्री
प्रभावती गुप्ता
जो थी द्वितीय प्रवरसेन की माता
'रामगिरि-स्वामिपदाम्बुज' पूजा करती थी
तब राज्य-श्री विलसित यहाँ रही,
पूर्ण नाश आज हुआ है उसका !

ध्वस्त पास ही है पुर, नाम नन्दपुर है वह,
पेंच नाम सरिता के तट से है विस्तारित
योजन-भर,
फैला है घनारण्य
झाड़ व झंखाड़ पार करके
पहुँचते वहाँ,
जीर्ण-शीर्ण दर्शनार्थ खँडहर के
बड़ी-बड़ी ईंटों के ढूह पड़े चहुँ ओर
देखो यह नींव राज-गृह की है
ध्वस्त वहाँ पुर का परकोट पड़ा !
सारा उध्वस्त नगर
थे नृपाल भूप जहाँ
हैं शृगाल घूक वहाँ
दुहूँ ओर विद्यमान आज भी अभेद्य दुर्ग शैलों पर
खिन्न दीठ देख रहे एकटक व कहते हैं—
वाकाटकवंश राजधानी यह

उनके ही साथ-साथ धूल-सनी
संस्कृति का सर्वनाश देखो होता कैसा !

—औ' कैसे होता है
संस्कृति का सर्वनाश ?
जानना रहस्य यही
जिनको रे स्वाभिमान पूर्वक है जीना निज संस्कृति में
उनको तो सुलझानी होगी ही
प्राणों की लगन से पहेली यह
पढ़ना ही होगा इतिहास पुनः

देखो यह कहता इतिहास हमें
हुआ नाश राष्ट्र-राष्ट्र का कैसे ?
पहले तो संस्कृति को घुन-सा लग जाता है
संस्कृति का तेज नष्ट होता है
लोपता विचारों का सामर्थ्य व
विद्याएँ बनती हैं तात्त्विक-सी

निरुपयुक्त, निश्चेतन,
विलग लोक-जीवन से,
जीवन के रस से हो असम रसित !
प्रगमनशीलता रुद्ध हो जाती
दबा दिये जाते हैं नव विचार
भूल शक्तियों की उन पड़ जाती
जो कि राष्ट्र-जीवन को विकसित करती अखंड;
शनैः-शनैः नष्ट हुई जाती है
निज-रक्षण-सामर्थ्य व
होता है सारा तंत्र उपेक्षित
रक्षण का, सुसंघटित शक्ति का !

मुट्ठी-भर बर्बर जन
संस्कृति से हीन, किन्तु नया जोश लिये हुए
सोधे से दर्शन से चेताये, भड़क गए,
उठते हैं और जीत लेते हैं
जीर्ण राष्ट्र,

तोड़-मोड़ देते हैं मृत संस्कृति ।

पहचानो बौद्धिक सामर्थ्य अरे !
निज रक्षण का महत्त्व
दोनों का योग्य करो संयोजन ।
मत करो उपेक्षा तुम उनमें से एक को
तब ही रहोगे जीवित इस जग में,
नहीं तो मिटोगे या नामशेष होगे तुम
यही तुम्हें कहता है चिल्लाकर
सृष्टि का विकास-क्रम

इसी जगत् में सुख से बसते थे
पर्वत सम चंड जीव
भीम-सरट भिदिर-सरट
द्विधरण-सरट जल-सरट
वर्धबाहु-सरट और मीन सरट
—अजस्र वे सरीसृप थे—

शंकुदन्त और महामद नामक
—गज विराट्—
निर्मूलन हुआ जातियों का उन
कंकाल विशाल बचे रहे मात्र
गली हड्डियों के अब धरती के पेट में
थे विशालकाय सभी
शक्तिमान ये, देखो
पर था मस्तिष्क पिंड
बहुत अल्प, छोटा-सा,
संवेदन उनका था सारा ही दीर्घसूत्र,
प्रकृति में परिवर्तन होने पर
अपने में बदल नहीं कर पाए
नहीं कहीं आयुध थे
रक्षण प्रतिकार करें ऐसे उनके तन पर
इससे उच्छेद किया
चपल किन्तु बुद्धिमान, अल्पाकृति,
हिंस्र प्राणियों ने उनका जग से !

प्रकृति ने इससे यह पाठ लिया :
रच करके कोटि-कोटि जीवद्रव
चंड देह-निर्मिति का
छोड़ दिया त्याज्य उपक्रम फिर से ।
अपनाई उत्क्रान्ति व
बुद्धि के विकास का नवीन पंथ ।

होते उत्क्रान्ति, अन्य मार्ग चले,
आ गई महत्ता फिर क्षुद्र मर्कटों को भी,
मनुज का विकास हुआ उनसे ही ।
आगे चल मानव ने
शारीरिक शक्ति अल्प होते ही
बुद्धि का साहाय्य ले
जीत लिया प्रकृति को सम्पूरण !
बड़े-बड़े प्राणि-मात्र नवा दिये ;
देखो पग बाँध दिए प्रकृति के !
वृद्धिशील बौद्धिक सामर्थ्य-सहित

ꣻड़ता है अप्रतिहत
ार्व शक्तियों से जो मानव की विरोधिनी ।

ौद्धिक सामर्थ्य दृश्यमान है विचार में,
ाहचानो प्रबल शक्ति विचार की
विचार और दर्शन से
हिल उठती मानव की जाति सभी,
कंपित हो, स्फूर्ति लिये,
होती है उद्यमयुत प्रोत्साहन पा करके
महत्कार्य करने को ।
असम्भव दिखाती करके संभव,
है प्रचंड इतनी प्रेरिका शक्ति
दर्शन में, विचार में !

अगणित दृष्टान्त दिये जा सकते
स्मरण करो उनमें से तीन-चार :
धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र

कुरुयुद्धारम्भ-काल,
अर्जुन हतबुद्ध विचारों से था दुर्बल जब,
लुप्त-तेज-वीर-श्री-निरुत्साह,
बोलने लगा अजान क्लीबों का प्रज्ञाहत तत्त्व-ज्ञान।
तब भगवान् ने किया प्रेरित जो
तेजस्वी तत्त्व-ज्ञान औ' विचार से उसको
गीता-उपदेश कर्मयोग दिया।
उत्साहित, चेत उठे,
अर्जुन को हुई महाविजय प्राप्त।

औ' समर्थ रामदास
छत्रपति शिवाजी ने
महाराष्ट्र-जागृति की।
सुन 'समर्थ' वाणी जो
शौर्य मराठों में, सामर्थ्य नई जागी थी :
"वह्नि तो चेतवावा रे
चेतावितांच चेततो"

सुनते ही रामदास-वाणी लो, चेत उठी
वह्नि महाराष्ट्र में स्वराज्य की
दीन 'मावले' भी यों गरज उठे—
'हर हर हर महादेव !'

बुद्धि भ्रष्ट होती है देखो तब
फीका पड़ जाता है कैसा सामर्थ्य-तेज
दुबली हो जाती है चंड शक्ति !
कितने ही युद्धों के क्षेत्रों पर
विजय-श्री पहनाने वाली थी माला जब
अपने राजाओं की शूरवीर सेना को,
इतने में खबर उड़ी
राजा या सेनापति मार दिया।
एकाकी सैन्य हुआ बे दिल औ'
जिधर राह मिली उधर भाग गया,
और शत्रु-दल को मिल गई धैर्यहत होते
मुफ़्त विजय !

और राज्य का विनाश पूर्ण हुआ !

इस मिथ्या दर्शन से
हुई कई पराजय ऐसी अपने !
जहाँ पर विचार यही :
राजा का राज्य
देश राजा का
उसकी ही सेना है, उसके ही लिए युद्ध !
वहाँ मरा राजा तो
नहीं प्रयोजन बचता लड़ने का
होता उत्साह अस्त सेना का ।

इससे स्थिति यह उलटी भी देखो :
जब जीवित थी प्रतीति
सर्व महाराष्ट्र मराठों का है,
सब ही हैं मालिक उस दौलत के,
तब राजाराम का न ठौर-ठिकाना जाने,

लड़े थे मराठे सब एक-हृदय ।
रक्षित की महाराष्ट्र-स्वतन्त्रता ।

—ऐसी हैं लीलाएँ भिन्न-भिन्न तत्त्वों की !

एक और मत सुनिये :
'क्षत्रिय तो युद्ध करें,
ब्राह्मण जप-जाप करें,
वैश्य करें व्यापार व
शूद्र करें सेवा ही ।'
शान्ति-काल सुख में वा संकट में
सब पालें यही धर्म ।
ऐसी ही स्थिति में जब
आया परचक्र अरे,
कौन खड़ा होता कह देने को—
"अरे देश को लगते आग यहाँ,
कौन भला ब्राह्मण या

क्षत्रिय या वैश्य, शूद्र ?
सारे ही मातृभूमि-सैनिक हैं
रक्षण के अर्थ प्राण देने को !"

—ऐसा जब कोई भी बचा नहीं कहने को
अचरज क्या नाश हुआ !!

नाश भरे यह विचार,
तत्त्व पराजयगामी
सूक्ष्म बीज रूपों से
अँकुराये भूमि में हमारे औ'
उनका वट वृक्ष बना
फैलाता चहुँ ओर जड़ें घनी,
छोड़ता जटाएँ पुनः भूतल पर
ऐसा —विस्तार हुआ—
बरगद ने घेर लिया संस्कृति का मन्दिर सब
पत्थर की भीतों में, नीवों में जड़ें बढ़ीं ।

जगह्-जगह् बन गई दरार कई
स्खलन हुआ सारे ही मन्दिर का
शिखर तक हुआ विदीर्ण !

महा तत्त्ववेत्ता औ' बड़े धर्म-संस्थापक
कितने ही यहाँ हुए
महावीर, बुद्ध और आचार्य
—पूज्यपाद सब ही निश्शंक वंद्य—
उद्यत कल्याण-हेतु
जग के औ' मानव के !

निर्घृण है प्रकृति और निठुर काल
किन्तु सदा खड़े हुए
करने को परख सभी तत्त्वों की ।
देखो उन तत्त्वों की भी महान्
धज्जियाँ उड़ा दी हैं ।
जीवन की सत्य कसौटी ऊपर

कस उतरा है कितना ?
खुली आँख से देखो !
खुला न्याय !
जो न महात्मा वे भी देख सके
दिखा रहा काल वही अब तुमको !

उनने सद्धर्म तुम्हें उपदेशा
जीवन के अभ्युदय-विकास का
जाने या अनजाने, आचरते आये थे
पुरखे वह श्रद्धा से
आशा अभ्युदय धरे ।
उनको औ' उनके ही वंशज को
घोर फल विनाश के मिले यहाँ
हुई अहिंसक की बस हिंसा ही
कहते इहलोक जो कि
माया है, मिथ्या है, भास आदि,
और थे टटोलते कि उनकी उस

आत्मा की मुक्ति-हेतु,
त्वरित स्वर्ग दिखा उन्हें !
दास्य-पंक में सदैव,
मृत मन हो धँसे रहे
खोकर इह वैभव को !

अरे, धर्म-तत्त्व-ज्ञान या विचार
चाहे कितने भी हों वे उदात्त,
सूक्ष्म और दिव्य भले लगते हों,
भासित हों निकले हैं स्वयं देव के मुख से,
फिर भी वे आचरो, न समझो या समझाओ,
ऐसे ही मार्ग और योग से कि
इन्हीं चर्म-चक्षुओं से देख नहीं पायँगे
इस ही जग जीवन में
अभ्युन्नति सब जन की।
मिथ्या है दर्शन वह भ्रामक है तत्त्व-ज्ञान
मानता कि मिथ्या जो इह जग को,

तुच्छ लेखता है नर-देह और
मानव के जीवन को !
मानव के जो विरुद्ध हैं विचार
जानो वे मूर्तिमान है विनाश !

नीति सदा प्रकृति से निरपेक्षित
धर्म औ' अधर्म से व पाप और पुण्य से
एकदम परे, अतीत !
दंडक उसके कठोर
एकसार लागू हैं सर्व चराचर को वे
उसकी विध्वंस-शक्ति
भूमि-कम्प बनकर जब
होती है प्रकटित तो
मन्दिर औ' मदिरालय
दुष्टों के महल और सन्तों की कुटिया भी
तोड़-मोड़कर देती एक साथ एक समय
देकर आघात एक !

मानव के रचे उच्च नीच भेद
विधि-निषेध
धर्म औ' अधर्म कुछ मानती कभी नहीं ।
उठता है सागर में जब तूफाँ
और डूबने लगती नौका जब
बचता तैराक भले पापी हो,
काम नहीं आता है कुछ भी तब
भवसागर-तारक वह पुण्यकर्म का संचय !

प्रकृति का सत्य रूप जानो यह :
त्रिगुणात्मक प्रकटित जो,
उत्पत्ति, स्थिति, लय के त्रिविध रूप ।
उसकी निर्माण-शक्ति जो असीम भर देती
धरती पर अविच्छिन्न
वृक्ष-लता, जीव-जन्तु, फूल-फलों की समृद्ध,
चैतन्य सृष्टि, फुल्ल !
स्थिति स्वरूप में प्रकृति वैसी ही

शान्त, शीत आह्लादन-दात्री जगधात्री सम
माता-सी करती है पालन एवं रक्षण,
अपने ही शिशुओं का,
स्वीय तन्त्र से निर्भर।
औ' कृतान्त रूप धार
विकराल, प्रलयंकर,
क्रूर, पंचमहाभूत खौला दे
विकट लास्य-ताण्डव कर
स्वेच्छा से करती है नाश उसी सृष्टि का !

—उसकी है लीला यह
काल-चक्र फेरों में चली सदा !!

ऐसे ही प्रकृति में
जीना है मानव को।
प्रकृति से परिवेष्टित मानव सब।
उसमें ही जीवन का है विकास मानव का।

सर्व शक्तियों का उस प्रकृति की
आवश्यक है विचार करना ही उसको तो
कारण यह मानव का जीवन है
प्रकृति का एक घटक, एक अंश वैचारिक ।

प्रकृति की शक्ति सभी
प्रतिबिंबित मानव के जोवन में ।
प्रकृति की निर्मिति से स्फूर्ति ग्रहण करके ही
मनुज कला-कृतियों की
करता है रचना लावण्यमयी
—प्रतिकृति नहीं, प्रतिसृष्टि—
प्रकृति की सौन्दर्य-श्री का कर आस्वादन
जी भर के,
विश्वासित स्थिति-स्वरूप में उसकी
स्मारक ये भव्य बनाता अपने !

और मूल, पाशवी

ध्वंस युद्ध-तृष्णा का
जब स्वभाव बल पाता,
हत्या का कांड, और सर्वनाश फैलाता
आग लगा उठता है ।
मानव ही मानव की कृतियों को तोड़-फोड़ देता है
मनुज-नाश को उद्यत मानव ही होता है !

प्रकृति का ही स्वभाव, प्रकृति की शक्ति सभी
जो-जो है प्रकृति में, वह सब-कुछ मानव में ।
उससे भी और अधिक कुछ ऐसा—
अन्तिम जो सीमा है प्रकृति की
मनुज-कार्य आरम्भित उस स्थल से
वहीं से ही मानवता का विकास ।
वहीं से सदा प्रयत्न बढ़ने का आगे को
उस ही उद्दिष्ट-सिद्धि हेतु मात्र
उसकी सब कला, शास्त्र,
विद्या औ' तत्त्व-ज्ञान,

धर्म तथा नीति-नियम, सदाचार या विचार !

प्रकृति से अधिक जो कि मानव में
उसमें है एकत्रित मनुज-जाति कल्याणप्रद आशा
और वही आशा है करना यदि सफलित तो
इसी लोक में, जग में,
नित्य परिश्रम करना होगा ही मानव को
व्यय करके सर्वशक्ति ।
प्रकृति में धारक जो शक्ति वही
योजित कर कौशल से मानव के कार्यों में,
नित्य उसे लड़ते रहना ही पड़ता है
संहारक नाश-शक्ति के विरुद्ध ।

वह मानव-धर्म सर्वश्रेष्ठ जो कि
कार्य-क्षम औ' प्रवृत्त करता है
मानव की जाति को ।
जो रहता मानव-कल्याण-निरत

नित्य सुखद करने को इह जीवन
उपदेशन देता है :
अरे करो स्वर-संगम प्रकृति की शक्ति से
मनुजों की वृत्ति का ।

मानवी विचार, नीति,
विद्या, आचार और तत्त्व-ज्ञान
होते सब मनुज-नाशकारी बस
उनको जब विस्मृति-सी होती है प्रकृति की
तुच्छ जहाँ गिनते हैं इह जग को ।
प्रकृति का सरल नियम—
जानते न सत्य-रूप जो उसका,
उसने स्थिति निर्मित की है जैसी
उससे ही समुचित बन रहते नहीं,
निज-रक्षण में सदैव जागरूक,
झगड़ते न, बदलते न,
वे होंगे आज नहीं तो कल को पूर्ण नष्ट !—

उनका परलोक-निरत धर्म नहीं
रक्षण कर सकता है इह जग में !

प्रकृति के संग इसी संगर में
औ' विरोध को उसके हटवाने
विजय प्राप्त करने में पंच महाभूतों पर
मानव की शक्ति का विकास सतत होता है ।
मिलता है जीवन चैतन्य भरा
मानव के हित लड़ते प्रकृति से
मरने में जीवन है !
चिरंजीव नाम उन्हीं लोगों का होता है,
और वही वंश सदा वैभव में बसते हैं

आँखें अब खोल ठीक
देखें तो मिलता है भेद यही
हममें औ' उनमें जो
हम सबको जीत गए ।

संस्कृति में न्यून यही
हमने की इह जग की अवहेला;
तुच्छ गिना इह वैभव;
चिपटाया छाती से
कर्म-भोग दर्शन ऐसा दरिद्र
गाते परलोक-स्तोत्र
निज-रक्षण-भार सकल
पत्थर के देवों पर डाल दिया
बैठ रहे हाथों पर हाथ धरे
कर्मों से हो निवृत्त
हो गए विचार-भ्रष्ट !

पत्थर के देवों में
तुमसे ही आता देवत्व अरे,
भावों का तेज तुम्हारा ही वह।
रक्षण निज देवों का
तुमको ही करना है।

यदि तुमको विश्वास व
श्रद्धा या निष्ठा है देवों पर,
उतनी ही निज में भी रखो, क्योंकि
देवों का कार्य सभी
तुम्हारे ही हाथों से होगा रे,
तुम्हारी ही रक्षा में उनकी भी रक्षा है !

देखो, तुम कितने थे
निज-रक्षण से विहीन !
प्रकृति की संहारक शक्ति जहाँ मुक्त हुई,
हिंस्र मनुज-रूप लिये
तुम्हें मार डाल, लूट लेने को
क्रूर, बुभुक्षित मानव के गिरोह चढ़ आये,
तुम सोये घनी नींद
प्राणों पर प्रबल वार होने तक
करने दी नोंच-खोंच मनमानी !
दौड़े नहीं रक्षण को अपने ही बांधव के

फिर अपना रक्षण भी कर न सके !

सोमनाथ मन्दिर में
थे सहस्र पूजक पर
था रक्षण समयोचित ?
आवश्यकता न लगी
क्योंकि देव पत्थर का
निज रक्षण और भक्तजन रक्षण
करने सामर्थ्यवान माना था
फोड़ी जब मूर्ति मूर्ति-भंजक ने,
श्रद्धा की पोल खुली !

अब भी तो देखो हैं कितने अ-सुरक्षित हम !
अपनी सब संस्कृति तो
रक्षण के तन्त्र की उपेक्षा से ढही और
ध्वस्त हुई,
तोड़-मोड़ कर डाली ध्वंसक ने !
सीमाएँ, अर्थहीन,

आकुञ्चित बनवाते
नित्य निकम्मेपन में
बढ़वाते गए और भेद-भाव
जाति-जाति पन्थ-पन्थ के अनेक,
ऐक्य-शक्ति का विभंग कर देते !

देखो,
निज रक्षण के हेतु व्याप्ति स्वत्वों की
बढ़ानी ही पड़ती है !
संस्कृति की ऐक्य-भावना घेरे,
उसकी सब संतति को
एकत्रित कर उनमें
प्रेरित करनी पड़ती
भावना स्वकीय 'सभी हम' जैसी
कृत्रिम सब क्षुद्र भेद-भाव मिटा
जीवन का क्षेत्र बनाना पड़ता विस्तारित।
सर्व देश को करना पड़ता है

संवेदनमय शरीर
एक देह, एक हृदय।
अपनी ही संस्कृति यह
अपना ऐश्वर्य, वित्त, कला, शिल्प,
अपने ही गृह-मन्दिर
और देश अपना ही,
रक्षित करने सुसज्ज
रहते जब सभी लोग,
पहचानें सबका ही जीवनैक्य।
सामर्थ्य व शक्ति तभी रहती निज रक्षण की,
प्रतिकारक रहने की !

और भग्न-मूर्ति यही
जतलाती है सबको
छिन्न-भिन्न स्थिति में भी
नाश के रहस्य की बनी प्रतीक।
खंडित यह अष्टभुजा दिखलाती कैसे थे

टूटे ये हाथ हमारे सारे !
छिन्न शिरो-भाग और कहता है
कैसा था पूर्ण बुद्धि-भ्रंश हुआ !
विराट् रूप राष्ट्र-पुरुष के ऐसे
शीर्ष, और हस्त सर्व
कैसे थे किस प्रकार
भग्न, नष्ट-भ्रष्ट हुए !

साधु सन्त अपने सब
भक्ति-मार्ग का सीधा सरल धर्म
बता गए
आचरते आज चले आते हैं
यात्रिक इस स्थल सहस्र,
त्रिपुरारी पूनम के उत्सव में
रामचन्द्र-दर्शन को ।
'राम-राम, सियाराम,
राम-राम, सियाराम'

भक्ति-भाव पूर्ण गान
झाँझ औ' मृदंगों की
मंजुल स्वर-संगत में,
झंडे ले हाथों में
नर्तन-रत
प्रेम-भरे भजनों में मगन, मत्त !
चढ़ जाते पैड़ी से
रामटेक गढ़ ऊपर,
जर्जर वे बूढ़े औ'
गोद लिये बच्चों को
स्त्रियाँ चलीं साथ-साथ
स्वच्छ शुभ्र ज्योत्स्ना से स्नात और कान्तिमान
नभ-चुम्बी मन्दिर के शिखर तुङ्ग
इकटक निहारतीं !

चहुँओर गूँज उठा
जय-जय स्वर राम नाम ।

शब्दों में कैसे वह ठाठ बँधे ?
समय आरती का जब मध्यरात्रि में होता,
त्रिपुर जलाते हैं तब
पूरे पीताम्बर का,
जलती हैं आरतियाँ लक्ष-लक्ष,
सब गिरि पर।
देहभान भूल सभी वे अलक्ष
जाते हैं उत्सव में
है उमंग सब दिशि में !

क्या यही उमंग नहीं
थी तब भी
जब कि हुआ मूर्ति-नाश
इस स्थल पर ?
तब भी तो
भक्ति-धर्म यह ही था,
तब भी तो जुटता था मेला यह,

भाविक-जन शत-सहस्र
ऐसे ही उत्सव में आते थे !
किन्तु मूर्ति का रक्षण करने को
दौड़े होंगे कितने
उन भोले श्रद्धामय भक्तों में
बहुधा बैठे होंगे अपने घर,
कहते, भरते उसाँस,
'कोमल हम कुसुमों से विष्णु-दास !'

ऐसी यह भक्ति नहीं
जिसमें सामर्थ्य, शक्ति
संरक्षण करने की देवों का अपने ही
तुम्हें नहीं उपदेशी सन्तों ने ।
'कुसुमों-से कोमल हम विष्णु-दास
वज्र से कठोर भी'
ऐसा था सन्त-वचन !
जिसमें यह शक्ति नहीं,

वह भक्ति ढोंग निरा,
और बाहरी दिखाव,
छलना है भीरु, षंढ !!

सर्वनाश ऐसा ही पूर्ण हुआ !
किन्तु आज उस विनाश पर ही तो
आशा का मन्दिर फिर
रचने को उठना है ना हमको ?
क्या जीवन-कार्य नहीं वह अपना ?

अनुभव गत शतियों का
नवयुग का ज्ञान और
शास्त्रों का परिचय सब
जिसमें है संयोगित रे अपूर्व,
ऐसी इस भाग्यवान पीढ़ी का
नवचेतन जीवन यह देखो तो,
अहोभाग्य प्राप्त हुआ अपने को !
कर लें कुछ सार्थक ही हम उसको !!

देखो तो
भव्य कला-कृतियाँ ये
जिनके अवशेष आज दिखते हैं,
नित्य वे बताते हैं
प्रचण्ड यहाँ कितने थे कार्य किये
अपने ही पुरखों ने !

मन्दिर कैलास खड़े हो जाओ सम्मुख तो
साभिमान भर आता अन्तर औ'
स्फुरित बाहु होते हैं
वैसा ही कुछ करने;
आँखों में हर्ष भरे आँसू आ जाते हैं !
पीकर वह शिल्प-कला-सुन्दरता
चेतना हमें होती गरिमा की।
और उसी प्राणवान चेतन में
पुनरुत्थापन की नवजीवन की निर्मिति की
प्रकट प्रबल होती है नव आशा !

प्रखर ग्रीष्म यद्यपि है आज अभी
धरती माँ दग्ध, त्रस्त,
है विदीर्ण;
सूखी औ' रूखी है।
जीवन के निर्झर सब सूख गए,
दावानल भड़क उठे,
गर्म-गर्म लू से सब सूख गई हरियाली,
रूख सभी मुरझाये।
ऐसा है आज ग्रीष्म, फिर भी क्या
पावस के दिवस दूर ?
देखो इस चण्ड ताप में ही है शक्ति निहित
वह विराट्, जो महाब्धि तप्त करे !
देखो उस सागर की भाप बनी,
घिरती नभ-मण्डल में !
पुरवाई बहते ही
मेघ-रूप धारण कर
झंझा पर हो सवार आवेगी,

विद्युत् का नर्तन कर,
कर गभीर घन गर्जन,
बरसेगी जीवन की वृष्टि गहन !
पुनः प्राप्त जीवन वह होते ही
धरती में तप्त छिपे बीजों के
नव अंकुर फूटेंगे निश्चित ही ।
होगी पुनरपि समृद्ध यह धरती ।
पनपेगा और यहाँ फिर नवीन शूर राष्ट्र ।

शूर राष्ट्र सृजने को,
जीवन-पर्जन्य पुनः पाने को,
जीवन-कामेष्टि यज्ञ
आरम्भो !
बुद्धिवाद का हुताश-कुण्ड करो प्रज्वलित
क्षुद्र भेद-तत्त्व जो मुमूर्षु थे,
जो-जो थे पतन-मूल
करो 'अग्नये स्वाहा' उसमें सब

कहते—'अग्नय इदं न मम !'

देखो यह भग्न मूर्ति वामन की
पंचम अवतार का रहस्य यही कहती है !
यद्यपि हो आज तुम विकास-रुद्ध
वामन हो, बौने हो,
दलित सभी औरों से, दबे हुए;
अरे, धरो फिर भी तुम
रूप त्रिविक्रम का ही !
पैर तले दाबो रे बली काल !
कहने को यह सन्देश
खण्डित होने पर भी,
प्रकृति की, काल की
विनाश-शक्ति दोनों से
लड़ती नित,
अब भी है खड़ी भग्न मन्दिर के सम्मुख ही
भग्न मूर्ति !!

अर्पण

लाया हूँ देने को पुनः तुम्हें
अर्द्ध-खिले, अर्द्ध मुँदे,
सूखे कुछ तृण के सुम।
ऊसर इस धरती के ये उलंग बच्चे हैं।
और भग्न मन्दिर की इस दरार से उमड़े,
ढहे हुए चौरे के खसे हुए पत्थर के पास कहीं,
जैसे भी विकसे हों,
रहने दो उन्हें दिये जैसे ही मैंने थे।

पूर्ण हुआ बुनकर यह शब्द-जाल भी मेरा
नहीं रहा तन्तु और, शब्द चुके।
बाढ़ भावना की भी उतर गई।

पुनः जड़ स्थिरता-सी छाई मन पर मेरे ।
कार्य-पूर्ति होने की उदासीनता है ये ?
गायनान्त पर आती गायक को जैसी या
चित्र पूर्ण होने पर चित्रकार को आती ।
—अपरिस्फुट कुछ-ना-कुछ
स्वर जैसे शेष रहे हिरदै में—
—और नहीं प्रकटी कुछ
सूक्ष्मभाव मृदुतर से चित्रण में—
मन को जब लगता है ।

उदासीनता वह क्या, हृदयाशय
पूर्ण नहीं रीता, इससे आई ?

चित्रकार जैसा है कागज़ पर कोरे ही
देखता मनोकल्पित चित्र, और
गायक ज्यों सुनता है अति सूक्ष्म श्रुतियों में
विस्तारण गीतों का,

मूर्तिकार प्रस्तर में बन्द हुई मूर्ति देख लेता है
—उद्यमयुत होते हैं—
—रंग और रेखा में चित्र बाँधने को वह—
—करने को श्रुतियों को कण्ठगत—
—बँधी हुई मूर्ति शिला-मुक्त और करने को—
और कार्य की समाप्ति जब होती
जानकर अधूरे निज कौशल को,
साधन की स्थूलता व
निज मूल प्रत्यय की सुधि आकर
होता है उद्वेगित,
—तूली का भार यहाँ और बढ़ा कुछ थोड़ा,
वहाँ नहीं ठीक जमा रंगों का सम्मिश्रण—
—वहाँ नहीं सध पाये वे ही सुर—
—पत्थर की अधिक परत छिल गई यहाँ कहीं
—ऐसे कुछ चिन्तन से ।
उदासीन मैं भी हूँ वैसा ही इस क्षण में !

मन में जो काव्याशय भावित था
उतना तो उतर नहीं सक पाया
शब्द-चित्र में मेरे ।
निश्चित कुछ बचा रहा मन में ही,
मन को ना जिसकी पहचान हुई,
शब्दों में जो न समा पाया वह !

अस्तु, जहाँ से आगे
पहुँच नहीं पाता कौशल मेरा
वही जान निज सीमा
ऐसी ही कृति अपनी वहीं छोड़ देता हूँ
पूर्ण मान !

किन्तु हृदय से अतृप्त
कर देता हूँ तुमको
यह अपूर्ण ही अर्पण !

परिशिष्ट — १

टिप्पणियाँ

पृष्ठ १ पंक्ति १ भग्नमूर्ति :

यह त्रिविक्रम वामन की मूर्ति नागपुर से ईशान दिशा में २४ मील की दूरी पर स्थित रामटेक नामक विख्यात तीर्थ-स्थान में है। काशी-यात्रा के महाद्वार के नाते रामटेक की ख्याति बहुत पहले से है। जिसका महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' में उल्लेख किया है, वह रामगिरि रामटेक ही है, ऐसा प्राच्य विद्या-विशारदों का मत है।

राम-लक्ष्मण के पुरातन देवालय इस गढ़ पर हैं। इसी गढ़ के वराह द्वार की ईशान दिशा में एक ऊँचे स्थान पर यह भग्नमूर्ति और उसका भग्न मन्दिर है।

मूर्ति लाल रंग के प्रस्तर की है और उसकी ऊँचाई पाँच फुट नौ इंच तथा चौड़ाई चार फुट आठ इंच है।

अपनी संस्कृति को हमारे लोग कितने भूल गए हैं इस बात

की कल्पना रामटेक के लोगों की इस मूर्ति के बारे में जानकारी प्राप्त करने से आती है। रामटेक के लोग इस भग्न मन्दिर को 'भाई-बहन का मन्दिर' कहते हैं। वामन की मूर्ति को भाई की मूर्ति समझकर बली की मूर्ति को बहन की मूर्ति मानते हैं। वामन की मूर्ति पर वर्षा के पानी से स्थान-स्थान पर फफूँदी के दाग़ दिखाई देते हैं। इसके सम्बन्ध में वहाँ के लोगों ने ऐसी आख्यायिका बनाई है कि किसी भाई ने अपनी बहन को लात लगाई। उसके कारण भाई के शरीर पर स्थान-स्थान पर फफोले उठ आए थे। उनके अनुसार यही दृश्य उस मूर्ति में दिखाया गया है।

प्राच्य-विद्या-विशारद स्वर्गीय डॉक्टर हीरालाल ने ऐसा कहा है कि यह वामन की अति प्राचीन मूर्ति है (नागपुर जिले का गजेटियर, १९०६, पृष्ठ ३३३)। मूर्ति निःसन्देह त्रिविक्रम वामन की है और उसके शिल्प से वह बहुत पुरातन है, ऐसा जान पड़ता है। भारत में वामन की अन्य मूर्तियों की अपेक्षा (उदाहरणार्थ वेरूल की) यह मूर्ति कई गुनी अधिक कलापूर्ण और सुन्दर है।

इस मूर्ति के सामने अब भग्न दशा में जो मन्दिर है, वह बिलकुल छोटा-सा है। परन्तु आस-पास के चिह्न देखने से ऐसा लगता है कि यह पहले बहुत बड़ा रहा होगा। इस मन्दिर के बचे हुए छः खम्भों में से चार खम्भे शिल्पित और दो सादा हैं। कुछ

टूटे हुए खम्भे और उनके ऊपरी भाग एक ओर जमा करके रखे गए हैं।

भग्नमूर्ति और मन्दिर प्राचीन-स्मारक-संरक्षण-विधान द्वारा संरक्षित है। ऐसी विज्ञप्ति भी वहां है। परन्तु उसके होते हुए भी उपद्रवी लोगों का ध्वंस-कार्य चलता ही रहता है।

पृष्ठ ७ पंक्ति ७ अम्बालय जल में :

'अम्बालय' रामटेक की टेकरी से पूर्व में बने तालाब का नाम है। इसी जलाशय में सीता ने स्नान किया था, ऐसी आख्यायिका है ('यक्षश्चक्रे जनकतनया स्नानपुण्योदकेषु, स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु'; मेघदूत : कालिदास)। इस पानी में स्नान करके अम्बराज का कुष्ठ रोग नष्ट हुआ। उसने इस जलाशय पर घाट बनाये। इस कारण उसे अंबालय (अंबालें) कहते हैं (नागपुर जिले का गैज़ेटियर १९०६, पृष्ठ ३३३)। नागपुर विदर्भ प्रदेश के मृतकों की अस्थियाँ इसी तालाब में डाली जाती हैं।

पृ० ९ पं० ६ रामगिरि :

रामगिरि रामटेक का प्राचीन नाम है। (उल्लेख—कालिदास : 'मेघदूत')। प्रभावती गुप्ता का विदर्भ में ऋद्धपूर को

प्राप्त हुआ वाकाटककालीन ताम्र-पट' ' रामगिरिस्वामिनः पादमूलात्' (भारत-इतिहास-संशोधक मण्डल, त्रैमासिक, वर्ष ३, अंक २-३-४ पृष्ठ ३१)

पृष्ठ ९ पं० १४ सिंदुर गिरि :

रामटेक का दूसरा एक नाम है सिंदुर-गिरि। उल्लेख—रामटेक के लक्ष्मण मन्दिर में यादव-नृप रामदेवराव का शिला-लेख। (प्रा० मिराशी और ल० रा० कुलकर्णी। सरदेसाई-स्मारक ग्रन्थ पृ० ११५)

पृ० ९ पं० १५ वाकाटक :

वाकाटक राज-वंश, विदर्भ में और उसके आस-पास के प्रदेश पर करीब ईस्वी २०० से ५०० तक अत्यन्त वैभव में राज्य करता था। इसके शिला-लेख और ताम्रपट उपलब्ध हैं (जायसवाल-कृत 'हिस्टरी आफ इंडिया', १५० से ३५०, प्रा० मिराशी-कृत 'कालिदास')।

पृ० १२ पं० ८ नौ ताला :

'ताल' शिल्प-शास्त्र में लम्बाई-चौड़ाई का एक परिमाण है। बारह अंगुल बराबर एक ताल। नर मूर्ति दस ताल की, क्रूर मूर्ति

बारह ताल की, असुर मूर्ति सोलह ताल की, बाल मूर्ति पाँच ताल की, और कुमार मूर्ति छः ताल की होती हैं। उसी प्रकार से सतयुग की दस ताल की, त्रेता युग की नौ ताल की, द्वापर की आठ ताल की और कलियुग की सात ताल की होनी चाहिए, ऐसा शिल्प-शास्त्र का नियम है। परन्तु मूर्तिकार साधारणतः नौ ताल की मूर्ति बनाते हैं (शुक्रनीति; 'सम नोट्स ऑन आर्टिस्टिक अनाटोमी' : अवनींद्र नाथ ठाकुर)।

पृ० १२ पं १४ अतिभंग :

हिन्दू शिल्प-शास्त्र में 'स्थान मान' से मूर्ति के जो चार प्रकार बताये गए हैं वे इस प्रकार हैं :

(१) समभंग : सब तरफ से एक-सा 'तोल' रखना। सात्विक और ध्यानस्थ मूर्तियों के लिए।

(२) अभंग : एक पैर पर किंचित् भार देकर ध्यानस्थ खड़े रखना। ध्यानस्थ मूर्ति के लिए।

(३) अतिभंग : जोर की हवा से जैसे वृक्ष झुकता है उस तरह से भावावेग के कारण झुककर खड़े रहना। प्रहरण संहार-जैसी कृतियाँ करने वाली मूर्तियों के लिए।

(४) त्रिभंग : अतिभंग का एक प्रकार। तीन स्थानों पर

झुकी हुई मूर्ति के लिए

पृ० १३ पं० ४ ऊरूमाल :

दोनों भुजाओं को बाँधकर जंघाओं तक पहुँचने वाली माला।

पृ० १३ पं० १४ दानशूर महाबली :

'येन बद्धो बली राजा दानशूरो महाबली' : रक्षा-बन्धन-मन्त्र।

पृ० १४ पं० १२ अद्‌भुत वामन :

श्री जयदेव कवि ने 'गीत गोविन्द' में वामनावतार का वर्णन इस प्रकार से किया है--

'छलयसि विक्रमणे बलिमद्‌भुतवामन
पदनखनीर जनितजनपावन
केशव धृतवामनरूप
जय जगदीश हरे !

पृ० २१ पं० ११ आर्ष संग्रहालय में :

मथुरा का कर्ज़न म्यूज़ियम आफ़ आर्किआलोजी

पृ० २५ पं० ६, १५ कालिदास :

महाकवि कालिदास रामटेक में गया होगा इस सम्बन्ध में प्रा० मिराशी-कृत 'कालिदास' पृ० ३९ देखिए।

पृ० २५ पं० १२ कुटज :

'स प्रत्यग्रै : कुटज कुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै' --मेघदूत ४

पृ० २६ पं० ८ रामगिरि :

इस सम्बन्ध में प्रा० मिराशी-कृत 'कालिदास' पृ० ९ देखिए।

पृ० २६ पं० १० द्वितीय प्रवरसेन :

वाकाटक नृप द्वितीय प्रवरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का दौहित्र था।

पृ० २६ पं० ११ प्रभावती गुप्ता :

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या। इसका विवाह वाकाटक-नृप द्वितीय रुद्रसेन से हुआ (ईस्वी ३९५ के करीब) रुद्रसेन की मृत्यु के बाद द्वितीय प्रवरसेन के आयु में छोटा होने के कारण यही राज्य-शासन देखती थी।

पृ० २६ पं० १३ रामगिरिस्वामी :

प्रभावती गुप्ता के ऋद्धपुर के ताम्र-पट में उल्लेख। 'रामगिरि स्वामिनः पादमूलात्' (भारत इतिहास संशोधक मण्डल, त्रैमासिक, वर्ष ३, अंक २, ३, ४, पृ० ९३) यह ताम्र-पट कार्तिक शुद्ध द्वादशी को रामगिरि पर प्रभु रामचन्द्र के पादकमल के सम्मुख एक ब्राह्मण को दिया है।

पृ० २७ पं० १ नंदपुर :

रामटेक जिले के जंगल में पेंच नदी के किनारे बसा हुआ गाँव। यहाँ पुरातन पुर के अवशेष हैं। इस सम्बन्ध में तथा नन्दपुर वाकाटकों की राजधानी होगी इस विषय में श्री टी० आर० वेलस्टेड के 'नोट्स आन वाकाटकाज़ ऑफ दि सी० पी० एण्ड बरार एण्ड देअर कंट्री : फोर्थ टु सिक्स्थ सेंचुरी ए० डी०' यह 'जर्नल अंड प्रोसीडिंग्ज आफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल,' न्यू सीरीज़ वा० २९-१९३३ नं० १ का लेख देखिये।

पृ० ३० पं० १२ :

पं० भीम सरट (Dinosaurus)
भिदिर सरट (Brontosaurus)

द्विधरण सरट (Diplodocus)
जल सरट (Plesiosaurus)
वर्धबाहु सरट (Branchiosaurus)
मीन सरट (Ichthyosaurus)
सरी सृप (Reptiles)
शंकुदन्त (Mastodon)
महामद (Mammoth)

पृ० ३२ पं० २ जीवद्रव :

'प्राटोप्लाज्म' (आजेरकर कृत, 'वनस्पति जीवन' ग्रन्थ में प्रयुक्त परिभाषा)

पृ० ५५ पं० १३ त्रिपुरारि पूनम :

त्रिपुरी पूर्णिमा को मध्यरात्रि को आरती के समय 'त्रिपुर' जलाते हैं। एक पीताम्बर घी में डुबाकर देवालय के ऊँचे कलश के शिखर पर एक बड़े आरती-पात्र में रखते हैं और आरती के समय उसे जलाते हैं। इसे 'त्रिपुर' कहते हैं। जन-भाषा में त्रिपुर को 'टिपूर' कहते हैं।

परिशिष्ट—२

काव्य में नवयुग कैसे आयगा ?[1]

मराठी कविता में प्रतिगति निर्मित हुई है, ऐसा आये दिन कहा जाता है। परन्तु मौलिक और उत्तम काव्य-निर्माण होकर काव्य के नवयुग का आरम्भ होने के लिए क्या करना चाहिए इस विषय में कवियों ने और काव्य-चिकित्सकों ने विचार नहीं किया है। आज नवकाव्य-विचार और आज के युग के अनुकूल नवकाव्य चाहिए, कहने वाले बहुत लोग हैं। उन्हें आजकल की कविता में प्रगति नहीं दिखाई देती। उसमें निरी भावना है, प्रज्ञा नहीं है; ऐसा वे कहते हैं। परन्तु काव्य के विषय और व्यञ्जना में नवयुग के अनुकूल क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन किये बिना काव्य में नवयुग कैसे आयगा?

आज तक महाराष्ट्र में उत्तम काव्य निर्मित होता था, परन्तु इसी काल-खण्ड में उसकी सृष्टि करने वाले व्यक्ति क्या एकदम कम

१. मूल ग्रन्थ के २ मई १९४० को प्रकाशित प्रथम संस्करण की स्वयं कवि द्वारा लिखित भूमिका के अंश।

हो गए हैं ? ऐसा कैसे सम्भव है ? प्रकृति की काव्यात्म-संवेदना की अनुभूति ग्रहण करने वाले कलाकार क्या आज नहीं हैं ? ऐसा सहसा कैसे संभव है ? नवकाव्य के विषय में विचार करने वाले उसकी उत्तम रीति से रचना करने की पात्रता रखने वाले व्यक्ति निश्चित हैं । परन्तु उनकी काव्य-सृष्टि परम्परागत बंधनों से कुण्ठित हुई है । रूढ़ि ने उनके पक्ष में गतिरोध निर्मित किया है ।

आज कलाकार के बारे में सारी कल्पना ही बदलती जा रही है । आज के कलाकार को अपनी कला द्वारा, निश्चित रूप से स्वयं कुछ विशेष मौलिक कहना और सूचित करना है । तब क्या कवि ही ऐसा कलाकार है जो परम्परित छन्दों से समझौता करके, उस समझौते में से जैसी भी रचना निर्मित हो, वह करता रहे ?

अब यदि काव्य की प्रगति होनी हो, नवकाव्योदय होना हो, काव्य का नवयुग आरम्भ होना हो तो काव्य को जैसा वह आज है उससे ऊपर के सोपान पर ले जाना होगा । वह आज के हमारे युग के अनुकूल बने । अनेक अप्राकृतिक बन्धनों में से उसे मुक्त करके उसमें नवजीवन, स्वतन्त्रता का नवचैतन्य फूंकना चाहिए । काव्य-विषयों और काव्य की शब्द-सृष्टि में नवनवीन प्रयोग करने चाहिएँ । ऐसे नवकाव्य का वाहन होने के लिए मुक्तछन्द ही उचित है । काव्य के क्षेत्र में भाटा आ गया है, काव्य में नवयुग आरम्भ

नहीं हो रहा है, इसका एक कारण है काव्य में मुक्त छन्द को स्वीकृत नहीं किया जा रहा है। छन्द में जिस कारण अपनी सुन्दरता आती है, वे आन्दोलन, ताल और अन्तर्नादसाम्य आदि सब गुण मुक्तछन्द में भी हैं। कृत्रिम बन्धन उसमें नहीं हैं। अपनी सादगी के कारण नवकाव्य का वाहन बनने के लिए मुक्त छंद ही उचित है।

आधुनिक खण्डकाव्य

अब आगे के युग में साहित्य-क्षेत्र में कविता का क्या स्थान रहेगा यह प्रश्न हमारे सामने है। एक समय ऐसा था जब पद्य ही साहित्य का सब-कुछ था। परन्तु धीरे-धीरे गद्य ने साहित्य के एक-एक क्षेत्र पर आक्रमण आरम्भ किया और वह प्रदेश पद्य से जीत लिया। अब लघुकथा और लघुनिबन्ध इन दो साहित्य-रूपों ने 'कथन' नामक काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग पर आक्रमण आरम्भ किया है। इस कारण से अब कथनपरक दीर्घ-काव्य के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा।

जो गद्य में कहा जाना सम्भव नहीं था वही काव्य है, ऐसी काव्य की परख की एक कसौटी कही जाती है। उस दृष्टि से देखने पर ऐसा कौन-सा साहित्य-रूप है जो गद्य में नहीं आ सकता? फिर छन्दाश्रयी काव्य की क्या आवश्यकता है? अगले युग में काव्य नामक

साहित्य-रूप धीरे-धीरे नष्ट होगा, ऐसा भविष्य-कथन भी सुना जाता है।

परन्तु काव्य की यह स्थिति बताने वाले यह भूलते हैं कि भाव-गीत (गीति-काव्य) नामक काव्य का अंग गद्य में कभी भी नहीं आ सकता। भाव-गीत में जो कहा जाता है या सुझाया जाता है वह गद्य में कभी भी कहा या सुझाया नहीं जा सकता। जब तक साहित्य है, तब तक भाव-गीत रहेंगे, और जब तक भाव-गीत हैं तब तक काव्य रहेगा।

वैसे देखा जाय तो गीति-काव्य ही काव्य की मूल प्रवृत्ति है। उसमें उत्कट भावनाओं का आन्दोलनात्मक सहजोद्गार पाया जाता है। काव्य की उत्पत्ति भाव-गीत में है और उसकी परिणति भी भाव-गीत की वृत्ति में है।

तब यदि भविष्य में साहित्य-क्षेत्र में काव्य को अपना स्थान टिकाना हो तो उसे इस मूलभूत और चिरस्थायी काव्य-वृत्ति का, यानी भाव-गीत का विस्तार करना चाहिए। परन्तु निरे मुक्तक भाव-गीत में ही काव्य का सम्पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। तब गीति-काव्य की वृत्ति के विकास और विस्तार में ही काव्य को अपना भावी क्षेत्र खोजना चाहिए। आधुनिक खण्डकाव्य अथवा प्रदीर्घ काव्य-रचना गीति-काव्य के प्रस्तार के रूप में ही होगी। और इसी तरह से वह साहित्य-क्षेत्र में अपना स्थान रख सकेगा। निरा कथ-

नात्मक खण्डकाव्य अब इसके आगे वह स्थान नहीं ले सकता। परन्तु गीति-काव्य की वृत्ति का विकास और विस्तार किसी कथनात्मक घटना पर रचे हुए विभिन्न गीतों का संग्रह-मात्र नहीं है, यह ध्यान में रखना चाहिए। बीज की वृक्ष में परिणति सच्चा विकास है। पाँच-दस लकड़ियों के गट्ठर अगर एक सूत्र से बाँध दिये जायँ तो वह निर्जीव संग्रह होगा, जीवंत विकास नहीं।

कथन, जो प्राचीन काव्य का विषय था वह आधुनिक लघु-कथा ने ले लिया। इस कारण से, काव्य में विषय-वस्तु की दृष्टि से क्रान्तिकारी प्रयोग करना आवश्यक हो गया है। भावनात्मक किन्तु जीवनोपयोगी दर्शन और जीवन की कारण-मीमांसा के क्षेत्र में आधुनिक मराठी कविता अभी जितनी आगे बढ़नी चाहिए थी उतनी आगे नहीं बढ़ी है। आधुनिक कवि-प्रतिभा का प्रज्ञा से संयोग नहीं हुआ है। वैज्ञानिक दर्शन अलग चीज़ है और जिन विशिष्ट तत्त्वों से मानवी जीवन का विकास होता है वह दर्शन अलग है। विचारों में भावना के अंकुर फूटकर उसे कार्यप्रवण करने वाला जीवनोपयोगी दर्शन काव्य द्वारा ही प्रभविष्णु पद्धति से कहा और सुझाया जा सकता है।

इस तरह से यदि अब मराठी-काव्य का विकास हुआ तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि पुनः काव्य के क्षेत्र में ज्वार

आयेगा और साहित्य में कविता अपना स्थान सुरक्षित रख सकेगी।

(मूल ग्रन्थ में मराठी मुक्तछन्द-विषयक मीमांसा है, जिसका अनुवाद यहाँ इसलिए नहीं दिया गया कि मराठी और हिन्दी मुक्त-छन्द की प्रकृति और प्रक्रिया भिन्न है।)

परिशिष्ट—३

अनुवादक का निवेदन

१९४० में मैं पूना के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गया था। वहाँ, उस वर्ष प्रकाशित इस मूल पुस्तक को खरीदने पर, मैं इसकी अभिनवता पर मुग्ध हो गया। तब तक मेरा कवि से कोई परिचय नहीं था। सन् '४१ में मैंने इस पुस्तक के पहले १६-१७ पृष्ठ हिन्दी मुक्त छन्द में अनूदित करके कवि के पास भेजे। बाद में यह अधूरा कार्य मेरे पूर्व-छात्र और मराठी के नवकवि श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध ने पूरा किया। फिर भी अनुवाद के संस्करण और छन्द में गति-निर्माण का कार्य शेष था। सन् '५३ में दिल्ली में 'भग्नमूर्ति' के कवि के साथ बैठकर, एक-एक पंक्ति पर पूर्ण विचार करके यह अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसमें यथासम्भव प्रयत्न किया है कि मूल के शब्द तथा शैली की विशेषताओं का निर्वाह हो। यह अनुवाद डॉक्टर बच्चन तथा श्री सियारामशरण गुप्त ने भी देखा है। उनके बहुमूल्य सुझावों से मैं उपकृत हूँ।

'भग्नमूर्ति' काव्य की विशेषता यह है कि वह अन्य रूढ़ खण्ड-काव्यों की भाँति कथनात्मक (नैरेटिव) काव्य नहीं है। वह किसी कहानी को दिया हुआ पद्यात्मक रूप नहीं है। इसमें आधुनिक कविता का विश्लेषणात्मक रूप (एनेलिटिकल पोएट्री) व्यक्त हुआ है। 'मेघदूत' की भाँति, कवि के मन में एक वस्तु के दर्शन-मात्र से स्फुरित भाव-गीतात्मकता का यह प्रलम्बित मुक्तक (एक्स्टेण्डेड लिरिक) है। इस कारण से उसमें रागात्मक अनुभूति की सघनता (इमोशनल इंटिग्रेशन) है। मूर्ति पर विचार करते-करते कवि साँची, अजन्ता, वेरूल, मथुरा म्यूज़ियम और वहाँ से हमारी सारी संस्कृति के ह्रास की बृहद् और विशद कारण-मीमांसा तक पहुँचता है। कवि की मौलिक उपलब्धि यह है कि "रक्षण-तन्त्र की उपेक्षा के कारण हमारी संस्कृति आज ऐसी खण्डहरनुमा हालत में है। बृहदाकार काफ़ी नहीं है, उसके साथ-साथ बौद्धिक विकास भी अत्यन्त आवश्यक है।" प्राणि-शास्त्र और मानव-वंश-शास्त्र से उदाहरण लेकर कवि ने यही सिद्ध किया है। इस प्रकार से यह छोटा-सा काव्य हमारे इतिहास, कला, दर्शन और समूची जीवन-पद्धति पर एक नया भाष्य है।

—*प्रभाकर माचवे*